श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.13 - द्वितीय सोपान (अर्थ)

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं(म्) रजस्तम इति , गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।

सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् , सत्त्वं(म्) सत्त्वेन चैव हि ॥ 1॥

प्रिय उद्धव! सत्त्व, रज और तम- ये तीनों बुद्धि (प्रकृति)-के गुण हैं, आत्माके नहीं। सत्त्वके द्वारा रज और तम- इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये । तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये ॥ 1 ॥

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात्, पुं(व्)सो मद्भक्तिलक्षणः ।

सात्त्विकोपासया सत्त्वं(न्), ततो धर्मः(फ्) प्रवर्तते ॥ 2॥

जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है॥ 2॥

धर्मो रजस्तमो हन्यात्, सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।

आशु नश्यति तन्मूलो, ह्यधर्म उभये हते ॥ 3॥

जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है । वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है ॥ 3 ॥

आगमोऽपः(फ्) प्रजा देशः(ख्), कालः(ख्) कर्म च जन्म च ।

ध्यानं(म्) मन्त्रोऽथ सं(व्)स्कारो, दशैते गुणहेतवः ॥ 4॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार - ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं ॥ 4 ॥

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां(म्), यद् यद् वृद्धाः(फ्) प्रचक्षते ।

निन्दन्ति तामसं(न्) तत्तद्, राजसं(न्) तदुपेक्षितम् ॥ 5॥

इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं. वे वस्तुएँ राजसिक हैं ॥ 5 ॥

सात्त्विकान्येव सेवेत, पुमान् सत्त्वविवृद्धये ।

ततो धर्मस्ततो ज्ञानं(म्), यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥ 6॥

जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करें; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है ॥ 6 ॥

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्- दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।

एवं(ङ्) गुणव्यत्ययजो, देहः(श्) शाम्यति तत्क्रियः ॥ 7॥

बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ 7 ॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः(फ्) प्रायेण, विषयान् पदमापदाम् ।

तथापि भुञ्जते कृष्ण, तत् कथं(म्) श्वखराजवत् ॥ 8॥

भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ 8 ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः(फ्), प्रमत्तस्य यथा हृदि ।

उत्सर्पति रजो घोरं(न्), ततो वैकारिकं(म्) मनः ॥ 9॥

प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि कर बैठता है जो कि सर्वथा भ्रम ही है तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है; उससे व्याप्त हो जाता है ॥ 9 ॥

रजोयुक्तस्य मनसः(स्), सं(ङ्)कल्पः(स्) सविकल्पकः ।

ततः(ख्) कामो गुणध्यानाद्, दुःसहः(स्) स्याद्धि दुर्मतेः ॥10॥

बस,जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है ॥ 10 ॥

करोति कामवशगः(ख्), कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।

दुःखोदर्काणि सम्पश्यन्, रजोवेगविमोहितः ॥ 11॥

अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है, उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त मोहित रहता है ॥ 11 ॥

रजस्तमोभ्यां(म्) यदपि, विद्वान् विक्षिप्तधीः(फ्) पुनः ।

अतन्द्रितो मनो युं(ञ्)जन्, दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ 12॥

यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयों में दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती ॥ 12 ॥

अप्रमत्तोऽनुयुं(ञ्)जीत, मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।

अनिर्विण्णो यथाकालं(ञ्), जितश्वासो जितासनः ॥ 13॥

साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय ॥ 13 ॥

एतावान् योग आदिष्टो, मच्छिष्यैः(स्) सनकादिभिः ।

सर्वतो मन आकृष्य, मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥ 14॥

प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्णरूपसे लगा दें ॥ 14॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं(म्) सनकादिभ्यो, येन रूपेण केशव ।

योगमादिष्टवानेतद्, रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ 15॥

श्रीकृष्ण! आपने जिस समय जिस रूपसे, सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ ॥ 15 ॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य, मानसाः(स्) सनकादयः ।

पप्रच्छुः(फ्) पितरं(म्) सूक्ष्मां(म्), योगस्यैकान्तिकीं(ङ्) गतिम् ॥ 16॥

प्रिय उद्धव! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था ॥ 16॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो, गुणाश्चेतसि च प्रभो ।

कथमन्योन्यसं(न्)त्यागो, मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ 17॥

पिताजी ! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है ? ॥ 17 ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं(म्) पृष्टो महादेवः(स्), स्वयं(म्)भूर्भूतभावनः ।

ध्यायमानः(फ्) प्रश्नबीजं(न्), नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ 18॥

प्रिय उद्धव! यद्यपि ब्रह्माजी सब देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं। फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे इस प्रश्नका मूलकारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मप्रवण थी ॥ 18 ॥

स मामचिन्तयद् देवः(फ्), प्रश्नपारतितीर्षया ।

तस्याहं(म्) हं(व्)सरूपेण, सकाशमगमं(न्) तदा ॥ 19॥

उद्धव ! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्ति-भावसे मेरा चिन्तन किया । तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ ॥ 19 ॥

दृष्ट्वा मां(न्) त उपव्रज्य, कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

ब्रह्माणमग्रतः(ख्) कृत्वा, पप्रच्छुः(ख्) को भवानिति ॥ 20॥

मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?' ॥ 20 ॥

इत्यहं(म्) मुनिभिः(फ्) पृष्टस्- तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।

यदवोचमहं(न्) तेभ्यस्- तदुद्धव निबोध मे ॥ 21॥

प्रिय उद्धव! सनकादि परमार्थतत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो॥ 21 ॥

वस्तुनो यद्यनानात्व- मात्मनः(फ्) प्रश्न ईदृशः ।

कथं(ङ्) घटेत वो विप्रा , वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ 22॥

ब्राह्मणो ! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ ? ॥ 22 ॥

पं(ञ्)चात्मकेषु भूतेषु , समानेषु च वस्तुतः ।

को भवानिति वः(फ्) प्रश्नो, वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ 23॥

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पंचभूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं?' आप लोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है ॥ 23 ॥

मनसा वचसा दृष्ट्या, गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।

अहमेव न मत्तोऽन्य- दिति बुध्यध्वमं(ञ्)जसा ॥ 24॥

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये ॥ 24 ॥

गुणेष्वाविशते चेतो, गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।

जीवस्य देह उभयं(ङ्), गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ 25॥

पुत्रो ! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं उपाधि हैं अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ 25 ॥

गुणेषु चाविशच्चित्त- मभीक्ष्णं(ङ्) गुणसेवया ।

गुणाश्च चित्तप्रभवा, मद्रूप उभयं(न्) त्यजेत् ॥ 26॥

इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये ॥ 26 ॥

जाग्रत् स्वप्नः(स्) सुषुप्तं(ञ्) च, गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

तासां(म्) विलक्षणो जीवः(स्), साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ 27॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति- ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है ॥ 27 ॥

यर्हि सं(व्)सृतिबन्धोऽय- मात्मनो गुणवृत्तिदः ।

मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्, त्यागस्तद् गुणचेतसाम् ॥ 28॥

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है ॥ 28 ॥

अहं(ङ्)कारकृतं(म्) बन्ध- मात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।

विद्वान् निर्विद्य सं(व्)सार- चिन्तां(न्) तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ 29॥

यह बन्धन अहंकारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्डज्ञान और परमानन्दस्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीयस्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे ॥29॥

यावन्नानार्थधीः(फ्) पुं(व्)सो, न निवर्तेत युक्तिभिः ।

जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः(स्), स्वप्ने जागरणं(म्) यथा ॥ 30॥

जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्नपदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और ममबुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वहअज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ॥ 30 ॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां(म्), भावानां(न्) तत्कृता भिदा ।

गतयो हेतवश्चास्य, मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ 31॥

आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नामरूपात्मक प्रपंचका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि फल और उनके कारणभूत कर्म

– ये सब के सब इस आत्माके लिये वैसे ही मिथ्या हैं; जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सब के सब पदार्थ ॥ 31 ॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्,
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसं(व्)हरते स एकः(स्),
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ 32॥

जो जाग्रत् अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभंगुर पदार्थोंको अनुभव करता है और स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत् अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है; क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'- इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओं में होना सिद्ध हो जाता है॥ 32॥

एवं(म्) विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था,
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
सं(ञ्)छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसं(व्)शयाधिम् ॥ 33॥

ऐसा विचारकर मनकी ये तीनोंअवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञानखड्गके द्वारा सकल संशयों के आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो ॥ 33 ॥

ईक्षेत विभ्रममिदं(म्) मनसो विलासं(न्),
दृष्टं(म्) विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया,
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ 34॥

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्टप्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी)-के समान अत्यन्त चंचल है और भ्रममात्र है- ऐसा समझे।ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूलशरीर इन्द्रिय और अन्त:करणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है॥ 34 ॥

दृष्टिं(न्) ततः(फ्) प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-

स्तूष्णीं(म्) भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।

संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या,

त्यक्तं(म्) भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात् ॥ 35॥

इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय । यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपंच देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है ॥ 35 ॥

देहं(ञ्) च नश्वरमवस्थितमुत्थितं(म्) वा,

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं(म्),

वासो यथा परिकृतं(म्) मदिरामदान्धः ॥ 36।।

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है- नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता ॥ 36॥

देहोऽपि दैववशगः(ख्) खलु कर्म यावत्,

स्वारम्भकं(म्) प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं(म्) स प्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः(स्),

स्वाप्नं(म्) पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ 37॥

प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपंचके सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको ॥ 37॥

मयैतदुक्तं(म्) वो विप्रा, गुह्यं(म्) यत् सां(ङ्)ख्ययोगयोः ।

जानीत माऽऽगतं(म्) यज्ञं(म्), युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ 38॥

सनकादि ऋषियो! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य

है। मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुमलोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो ॥ 38 ॥

अहं(म्) योगस्य सां(ङ्)ख्यस्य, सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।

परायणं(न्) द्विजश्रेष्ठाः(श्), श्रियः(ख्) कीर्तेर्दमस्य च ॥ 39॥

विप्रवरो! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह) - इन सबकी परम गति - परम अधिष्ठान हूँ ॥ 39 ॥

मां(म्) भजन्ति गुणाः(स्) सर्वे, निर्गुणं(न्) निरपेक्षकम् ।

सुहृदं(म्) प्रियमात्मानं(म्), साम्यासं(ङ्)गादयोगुणाः ॥ 40॥

मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असंगता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ। सच पूछो तो उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं ॥ 40 ॥

इति मे छिन्नसन्देहा, मुनयः(स्) सनकादयः ।

सभाजयित्वा परया, भक्त्यागृणत सं(व्)स्तवैः ॥ 41॥

प्रिय उद्धव! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये। उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया ॥ 41 ॥

तैरहं(म्) पूजितः(स्) सम्यक्, सं(व्)स्तुतः(फ्) परमर्षिभिः ।

प्रत्येयाय स्वकं(न्) धाम, पश्यतः(फ्) परमेष्ठिनः ॥ 42॥

जब उन परमर्षियोंने भली-भाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया ॥ 42 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां

संहितायां एकादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/kPOTZkaDjnA